केदार-काव्य की लोकधर्मिता

रवीन्द्रनाथ मिश्र

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में लोकजीवन जैसी सहजता और सरलता है। सहजता भी एक नैतिक मूल्य है। वह अपने आप नहीं आती, बल्कि सामाजिक संघर्षों और टकरावों के बीच से पैदा होती है। जब हम भक्तिकाल के सन्तों की सहजता की बात करते हैं तो उनके जीवन-संघर्षों का बिंब हमारे मानस पटल पर अंकित हो जाता है। केदार के जीवन में निराला और नागार्जुन जैसा संघर्ष तो नहीं था, फिर भी केदार की सहजता उनके वैचारिक परिवेशगत संघर्षों से उपजी है। अजय तिवारी ने लिखा है–"केदार में न आत्मसंघर्ष है, न जटिलता–ऐसा समझने वालों की सेवा में निवेदन है कि कबीर की 'सहज साधना' याद कर लें–'जो सहजै विषया तजै, सहज कहावै सोई।"[1] यानी सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति का भाव रखने वाला मनुष्य ही सहजता का गुण धारण कर सकता है। केदारनाथ अग्रवाल को हम सन्तों की कोटि में तो नहीं ला सकते फिर भी उन्होंने सहज जीवन धारण करते हुए व्यक्तिगत स्वार्थों की कभी परवाह नहीं की और न ही सत्ता-व्यवस्था से जुड़े।

राजधर्म है : बड़े काम में, छोटे काम भुलाना/बड़े लाभ के कारन, छोटी जनता को ठुकराना।
रोजी-रोटी के सवाल को, कोसों दूर भगाना/सरकारी पेटी में रुपया, टैक्स लगाकर लाना।।
कहता है केदार सुनो जी! राजधर्म लो मान/मंत्री बनकर पूरे कर लो, सब अपने अरमान।[2]

प्रस्तुत पंक्तियाँ आजादी के बाद की सत्ता व्यवस्था और वर्तमान समय पर करारी चोट करती हैं। कवि लोक जनता के बल को अपनी कविता का बल मानता है और इस आत्मविश्वास के साथ वह सौ साल जिन्दा रहने की उम्मीद करता है। कवि केदार की कविता और उनके जीवन में कोई फाँक नहीं है। कबीर की भाँति केदारजी ने भी कविता में विचार, भाव और भाषा को प्रयुक्त करने के लिए यदि सीधे ढंग से बात नहीं बनी तो दरेरा देकर बना दिया।

हमका न मारौ नजरिया! ऊँची अटरिया माँ बैठी रहौ तुम/राजा की ओढ़े चुनरिया
वेवेल के संगे माँ घूमौ झमाझम,/हमका बिसारे गुजरिया...
राजा के हिरदय से हिरदय मिलावै, करती रहौ रंगरलियाँ/हमका पियारा है भारत हमारा
तुमका पियारा फिरंगिया/हमका न मारौ नजरिया![3]

प्रस्तुत लोकगीत में मेरी समझ से 'झमाझम' शब्द नहाने के सन्दर्भ में आता है न कि घूमने के लिए। ऐसे उदाहरण केदार की कविताओं में सामान्य रूप से मिलते हैं। भारतीय लोकगीत की

अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा-403206

परम्परा की तर्ज पर जिस प्रकार भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने 'आवहु सब मिलि रोअहु भारतवासी' गीत लिखकर भारतीय समाज की दुर्दशा का चित्रण किया, केदारनाथ अग्रवाल ने लोकधुनों का सहारा लेकर उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से राष्ट्रीय प्रेम का इजहार किया है।

केदारनाथ अग्रवाल की अधिकांश कविताएँ बांदा के कमासिन गाँव की धरती और केन नदी की संस्कृति से जुड़ी हैं जिसमें वहाँ की माटी की गंध सर्वत्र विद्यमान है। दरअसल केन और केदार की कविता का अटूट रिश्ता है। केन नदी के आसपास के लोकजीवन का सम्पूर्ण परिवेश और वहाँ की सांस्कृतिक विरासत केदार की कविता में जीवंत हो उठी है। उन्होंने अपूर्वा की भूमिका में लिखा है कि "मैं कविता की सांस्कृतिक सार्थकता का समर्थक कवि रहा हूँ और अब भी हूँ। इससे मेरी कविता उतनी ही मेरी है, जितनी दूसरों की।"

केन नदी को तब भी कोई जीत न पाया,/उसकी धारा
का पथ कोई रोक न पाया
उसने पय से प्यार किया है, ममता की है,/आँसू से
भीगे मानव को दृढ़ता दी है।
केन नदी कहती है मेरा पानी पी लो/'नीलकंठ' से मेरे
बांदावासी जी लो।

केदार की अधिकांश कविताएँ सामूहिक चेतना से जुड़ी हैं, इसलिए उनमें लोकधर्मी काव्यसंवेदना का स्वरूप कुछ अधिक ही मुखरित हुआ है। दरअसल लोक से तात्पर्य क्लासिक वर्ग और व्यक्तियों से अलग उस सामूहिक चेतना और संस्कृति से है, जिसे सामूहिक मानस युग-युगों से चली आती परम्पराओं के रूप में सँजोता और विकसित करता है, और जिसमें उस समाज की आदिम चेतना के अवशेष लगातार सक्रिय रहते हैं। यहाँ अहं-चैतन्य का भाव नहीं रहता। प्रताप सहगल ने लिखा है–"लोक साहित्य में जितनी अनगढ़ता है, कच्चापन है, उतनी ही उसमें मिट्टी की खुशबू भी है। उसमें एक सम्मोहन है। मानवीय संवेदना का वाहक है लोक साहित्य। लोक-साहित्य कभी हिंसक नहीं होता, साम्प्रदायिक भी नहीं, संकुचित भी नहीं। वह तो समूहधर्मी है, सामाजिक प्रतिबद्धता है उसमें।"[5] रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जनता और लोक में फर्क करते हुए कहा है कि "हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द 'लोक' है जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है।...आचार्य शुक्ल के मानक कवि जनता में प्रिय कवि तुलसी हैं, जबकि द्विवेदी के मानक कवि लोक में प्रिय कबीर हैं।"[6]

केदारनाथ अग्रवाल भी लोक कवि हैं। वे भी कबीर की भाँति बिना लाग लपेट की खरी-खरी बात करते हैं। काव्य की सहजता और अक्खड़ता के दोनों रूप केदार की कविता में मिलते हैं।

देश की छाती दरकते देखता हूँ/राजनीतिक धर्मराजों
को जुए में,
द्रोपदी को हारते मैं देखता हूँ/ज्ञान के सब सूरजों को
अर्थ के पैशाचिकों से/ रोशनी को माँगते मैं देखता
हूँ।
योजनाओं के शिखंडी सूरमों को/तेग अपनी तोड़ते मैं
देखता हूँ।

कबीर की भाँति इन्होंने भी कविता को अपनी लोक अनुभूतियों से गढ़ा और सँवारा है। केदारनाथ अग्रवाल भी घनानन्द की तरह 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मोरे कवित्त बनावत' की परम्परा में आते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है "कविताई न मैंने पाई, न चुराई। इसे मैंने जीवन जोत कर किसान की तरह बोया और काटा है। यह मेरी अपनी है, और मुझे प्राण से अधिक प्यारी है।" यही कारण है कि इनकी कविता में लोक जैसी सहजता, निष्कपटता और सादगी विद्यमान है। जहाँ सुप्रसिद्ध आलोचक शिवकुमार मिश्र ने उन्हें किसान संवेदना का कवि कहा है, तो कवि राजेश जोशी इनकी कविता को 'नरम जीभ की मितभाषी कविता' कहते हैं और शमशेर की भाँति ये भी केदार को नगरीय संवेदना का कवि मानते हैं। वस्तुतः केदार की कविता की सरलता में चित्रात्मकता और गत्यात्मकता है, जोकि हमारी चेतना और संवेदना को झकझोर कर रख देती है और लोकजीवन के करीब ले जाकर खड़ा कर देती है।

गाय, बैल, भेड़, बकरी, पशुओं के दल में/मूर्ख मनुष्यों
का समाज, खोया रहता है;
सड़े घूर की, गोबर की, बदबू से दबकर/महक
जिन्दगी के गुलाब की, मर जाती है।
रार, क्रोध, तकरार, द्वेष से, दुख से कातर/आज ग्राम
की दुर्बल धरती, घबराती है।

सुमित्रानन्दन पंत की प्रगतिशील विचारधारा की अधिकांश कविताएँ 'युगांत', 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' काव्यसंग्रहों में संकलित हैं। युग को संकेतित करते हुए केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन के क्रमशः 'युग की गंगा (1947) और 'युगधारा' (1953) काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। रामविलास शर्मा का मानना है कि 'युग की गंगा' की कविताएँ भारत और हिन्दी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए बहुमूल्य दस्तावेज हैं।"[9] युग की गंगा सुलभ न होने के कारण इसकी

दस कविताएँ 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' (1965) और 42 कविताएँ 'गुलमेंहदी' (1978) में प्रकाशित हुईं। 'नागार्जुन के बांदा आने पर' कविता में केदारनाथ अग्रवाल बांदा की ग्राम्य लोकसंस्कृति का बड़ा ही सजीव चित्रण करते हैं :

यह बांदा है/सूदखोर आढ़त वालों की इस नगरी में/
जहाँ मार, काबर, कछार, पंडुआ की फसलें
कृषकों के पौरुष से उपजा कन-कन सोना/लढ़ियों में
लद-लदकर आकर/ बीच हाट में बिककर-
कोठों-गोदामों में/गहरी खोहों में खो जाता है जा-
जाकर/और यहाँ पर/रामपदारथ, रामनिहोरे/बेनी पण्डित,
वासुदेव, बल्देव, विधाता/चन्दन, चतुरी और चतुर्भुज/गाँवों
से आ-आकर गहने गिरवी रखते।[10]

केदारनाथ अग्रवाल ने बांदा के जिस किसान जीवन की श्रमशील संस्कृति और सूदखोरी का जिक्र किया है वह मुख्य रूप से सम्पूर्ण उत्तर भारत की व्यथा कथा है जोकि सदियों से चली आ रही है। प्रेमचन्द के कथा साहित्य, निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि की कविताओं में लोकजीवन के शोषित मनुष्यों के अनेक चित्र बिखरे पड़े हैं। सुमन की ये पंक्तियाँ 'इस ओर पड़ी खानाबदोश मेहनतकश, मानव की पांतें/फुटपाथों की चट्टानों पर जो बिता रही हैं अपनी रातें' मजदूर जिन्दगी का बयान करती हैं। हाँ, यह बात सही है कि केदार ने श्रमिक मजदूरों और किसानों पर जितना लिखा है, उतना हिन्दी के अन्य कवियों ने नहीं लिखा है।

आदमी का बेटा/गरमी की धूप में भाँजता है
फड़ुआ/हड्डी को, देह को तोड़ता है।
खूब गहराई से धरती को खोदता है/काँखता है,
हाँफता है, मिट्टी को ढोता है।
गन्दी आबादी के नाले को पाटता है।[11]

प्रस्तुत कविता 'वह तोड़ती पत्थर' की परम्परा को आगे बढ़ाती है जोकि नागार्जुन और केदार की रचनाओं में विकसित हुई है। खगेन्द्र ठाकुर ने लिखा है "केदार की कविता मनुष्य के जीवन और समाज की पूरी प्रक्रिया की कविता है। इस प्रक्रिया में उनकी कविता सत्य और न्याय के मानव-मूल्य और सामाजिक प्रगति के, मेहनतकशों और आम जनता के, यानी समाजवादी क्रान्ति के पक्ष से प्रतिबद्ध है।"[12]

केदार के यहाँ मजदूर का संघर्ष, उनका मेहनतकश आदमी का संकल्प और पसीना उनके लिए बड़ी बात है। इसके आगे बड़े-बड़े दर्शन और सिद्धान्त फेल हो जाते हैं। जो किसान धरती का सीना फाड़कर अन्न उगाता है और जिससे मानव- समाज अपने पेट की आग बुझाता है, वह किसान किसी भगवान से कम नहीं है। उसी किसान-जीवन की दशा का चित्रण कवि इस प्रकार करता है–

जब बाप मरा तब यह पाया/भूखे किसान के बेटे
ने : / घर का मलवा, टूटी खटिया/कुछ हाथ भूमि-वह
भी परती।
चमरौधे जूते का तल्ला/छोटी, टूटी बुढ़िया औगी/दरकी
गोरसी बहता हुक्का/लोहे की पत्ती का चिमटा।
कंचन सुमेरु का प्रतियोगी/द्वारे का पर्वत घूरे
का/बनिया के रुपयों का कर्जा/जो नहीं चुकाने पर
चुकता।
दीमक, गोजर, मच्छर, माटा-/ऐसे हजार सब सहवासी/
बस यही नहीं, जो भूख मिली/अब पेट खलाए फिरता
है।
चौड़ा मुँह बाए फिरता है/वह क्या जाने आजादी
क्या?/आजाद देश की बातें क्या??[13]

दीमक, गोजर, मच्छर, माटा, चूहा, बिल्ली, खुरपा-खुरपी, खांची-खांची, झउआ, पलड़ा, कुदाल-फावड़ा, हसियाँ, कूड़ा-कर्कट, हाडी, पतरी, बोरसी, मेटी, लोटा-लोटी, गगरा-गगरी, थारी-परात आदि किसान जीवन की जिन्दगी से जुड़े नाना प्रकार के लोकजीवन के शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है। इससे लगता है कि लोकजीवन के बीच उनकी कितनी गहरी पैठ थी। यही नहीं उन्होंने लोक और प्रकृति को एकाकार कर दिया है। प्रकृति के नाना दृश्य लोकजीवन की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करते हैं–

आसमान की ओढ़नी ओढ़े,/धानी पहने/फसल
घंघरिया/राधा बनकर धरती नाची/नाचा हंसमुख/
कृषक संवरियाँ।
माती थाप हवा की पड़ती/पेड़ों की बज/रही दुलकिया/
जी भर फाग पखेरू गाते/ढरकी रस की/राग-गगरिया!
मैंने ऐसा दृश्य निहारा/मेरी रही न/मुझे खबरिया/खेतों
के नर्तन-उत्सव में/भूला तन-मन/गेह डगरिया।[14]

प्रकाश मनु का कहना है कि "यों केदार के यहाँ प्रकृति के प्रभाववादी चित्र ही ज्यादा हैं और उनका 'बेहतरीन चित्रकार मन' उन्हें रंगों से, उजाले से लबालब कर डालने का शायद ही कोई मौका छोड़ता हो। इसीलिए शायद केदार के प्रकृति काव्य की चित्रात्मकता सबसे अधिक खींचती है।"[15] केदारनाथ अग्रवाल कृषक लोकजीवन के प्राकृतिक परिवेश के कवि हैं। उनकी रचनाओं में लोकजीवन के होली, दीवाली, दशहरा, खेत के गीत आदि तीज-त्योहारों का जगह-जगह चित्रण हुआ है। 'कहें केदार खरी-खरी' की भूमिका में अशोक

त्रिपाठी ने लिखा है–"केदारजी धरती के कवि हैं। खेत, खलिहान, कारखाने और कचेहरी के कवि हैं, इन सबकी पीड़ा, दुःख-दर्द, संघर्ष और हर्ष के कवि हैं। कविता में मनुष्य तथा मनुष्यता की तलाश के कवि हैं।"[15]

कवि केदार पर उनका वकालत का पेशा कभी हावी नहीं हुआ है। लोकजीवन की खरी बात का उन पर अधिक प्रभाव है। रोजमर्रा की जिन्दगी के विचार, आचरण, अनुभव आदि उनकी अनुभूतियों में रच-बस गए हैं। वे अपनी अनुभूतियों को खूब सजा बजाकर पेश नहीं करते बल्कि भक्क और धक्क के अंदाज में ठेल देते हैं।

वोट न माँगै पैहौ भैया/जो तुम माँगै ऐहो/आहें पैहों, आँसू पैहों/रौंदी मांटी पैहौ
जौन गली माँ, जौन दुआरे/जौन गाँव माँ जैहों/आपन मेटी, आपन लूटी/जारी झाँकी पैहौ।...
वोट न माँगै पैहौ भैया!/जो तुम मागै ऐहौ/खद्दर-ओढ़े, खीस निपोरे/नाहक गाल बजैहौ
गाल न गुलगुल चाटैं पैहौ/जो तुम चाटैं ऐहौ/तरुआ चाटैं, एंडी चाटैं/बातैं छाटैं ऐहौ।[16]

उत्तर भारत के कजरी, बिरहा, कहरवा, धोबीगीत, विवाहगीत आदि जैसे लोकगीतों के साथ आल्हा लोकगीत की अपनी अलग पहचान है। इसमें वीर और श्रृंगार रस का अद्भुत समन्वय है। मीडिया के प्रभाव के कारण लोकगीतों की परम्परा तहस-नहस होती जा रही है अन्यथा इन गीतों का अपना रंग था। लोकगीत लोकजीवन के मनोरंजन के साधन थे।

गुड़गुड़े-गुड़गुड़े हुक्का पकड़े/खूब धड़ाके धुआँ उड़ाते/फूहड़ बातों की चर्चा के/
फौवारे फैलाते जाते। दीपक की छोटी बाती की/मन्दी उजियारी के नीचे
घंटों आल्हा सुनते-सुनते/सो जाते हैं मुरदा जैसे!![17]

कवि ने 'बम्बई का रक्त-स्नान' नामक पुस्तक में लोककाव्य आल्हा का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है जिसमें मुम्बई के सम्पूर्ण जीवन परिवेश एवं वहाँ के कार्य-व्यापार का सुन्दर वर्णन हुआ है।

हुआँ मजुरहन की बस्ती है, हुआँ गरीबी रहैं जुहाय/पूँजीपतियन के कोल्हू माँ कम पैसा माँ पेरे जाएँ
हुआँ चलति है सोसन-चक्की, हुआँ हवात है अत्याचार/हुआँ न मालिक ध्यान धरत हैं चाहे जेती करौ पुकार
हुएँ पारटी कम्युनिस्टन कै आपन दफदर दिहेसि लगाए/कामरेड जेहिके सामिल है सबके दुख माँ होयँ सहाय
हिन्दी उर्दू अंग्रेजी का 'जनयुग' का छापैं अखबार/नौकरसाही थैलासाही का जो देय करेजा फार।[18]

केदारनाथ अग्रवाल ने 'हे मेरी तुम' और 'जमुन जल तुम' में पत्नी-प्रेम पर जितनी कविताएँ लिखी हैं, हिन्दी क्या पूरे भारतीय साहित्य में किसी कवि ने नहीं लिखी होंगी। निराला 'रँग गई पग-पग धन्य धरा', 'जूही की कली' और '(प्रिय) यामिनी जागी' आदि कविताओं में किसी न किसी रूप में मनोहरा को याद करते हैं। नागार्जुन 'वह दंतुरित मुस्कान' और 'सिन्दुर तिलकित भाल' के माध्यम से पत्नी के प्रति प्रेमोद्गार व्यक्त करते हैं। पत्नी के साथ उम्र के विविध मोड़ों पर अपनी अनुभूतियों को कवि ने जिस रूप में व्यक्त किया है, उसके सामने रीतिकालीन परकीया प्रेम के उदाहरण भी फीके पड़ जाएँगे।

गुलाबी गालों वाली नारि!/न बैठो पल भर मेरे पास कि मुझको डर है तुमसे आज/हृदय का तोड़ोगी विश्वास
शराबी आँखों वाली नारि!/न हेरो पलभर मेरी ओर कि मुझको डर है तुमसे आज/हृदय को बेधेगी दृग-कोर
वसन्ती बाहों वाली नारि!/न डालो फूलों का गलहार कि मुझको डर है तुमसे आज/हृदय को कर दोगी लाचार।[19]

'जमुन जल तुम' की भूमिका में केदारजी ने स्वयं लिखा है–"मैंने अपने प्रेम को इस प्रकार के परकीया प्रेम के उदात्तीकरण से अलग रखकर सरल, सहज और खुले रूप में स्वकीया प्रेम को मानवीय प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया है।... आज, मेरे ऐसे प्रेम की कविताएँ हिन्दी-काव्य में मिलना दुश्वार हैं। अब तो नए-नए उभरते स्वर वाले कविगण भी परकीया आकर्षण से ही अभिभूत होते हैं और क्षणिक आवेश की रचनाएँ देकर पारस्परिक चुहलबाजी कर लेते हैं।"[20]

लोकजीवन में नारी जाति का गहने के प्रति आकर्षण भी कवि की नजरों से ओझल नहीं हुआ है। गबन की जालपा का आभूषण प्रेम किसी से छिपा नहीं है। यहाँ कवि ने 'लाकेट लूँगी' कविता में एक लोकनारी की हठधर्मिता का चित्रण किया गया है।

लाकेट लूँगी/मेरा गला पड़ा है सूना/आज न मानूँगी-झगड़ूँगी/लाकेट लूँगी

मैं तुमको पहचान गई हूँ/ वादे करके तोड़ चुके हो/तुम पूरे झूठे निकले हो
जब देखा तब टरकाते हो।
आज तुम्हें तो देना होगा/मेरी जिद को रखना होगा/यही उचित है झट दे डालो
वरना बड़ा बखेड़ा होगा/लाकेट लूँगी।
सदा तुम्हारी बनी रहूँगी/सुख में दुख में साथ रहूँगी/मुझसे तुमसे प्रेम रहेगा।[1]

प्रस्तुत कविता में पत्नी अपने पति से लाकेट के लिए हठ करते हुए मीठी धमकी भी देती है, और साथ में सुख-दुःख में साथ निभाने का वादा भी करती है। त्रिलोचन की चम्पा लाख दुःख सहने पर भी अपने बालम को कलकत्ता नहीं भेजना चाहती है। धनिया गरीबी की मार झेलते हुए भी होरी के प्रति समर्पित रहती है। आज जहाँ सैकड़ों केस तलाक के दर्ज हो रहे हैं वहाँ इस प्रकार के आत्मीय प्रेम की बात करना बेमानी होगी।

केदार की कविता में प्रकृति और लोक परिवेश की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका को अलग करके नहीं देखा जा सकता। कालिदास, तुलसी, निराला, नागार्जुन की परम्परा में केदार के घन लोकजन के कल्याण से जुड़े हैं। केदार की लोक-दृष्टि मानववादी रही है। लोकजीवन का कोई ऐसा कोना नहीं है जोकि उनकी आँखों से ओझल हो गया हो। वे आजीवन उनके बीच रहकर उनके कल्याण के लिए लड़े। उत्तर-प्रदेश के अधिकांश शहरों की संस्कृति लोकजीवन जैसी ही है। उन्होंने स्वयं लिखा है "मैंने प्रकृति को चित्र के रूप में देखा है। उसके सम्पर्क में मुझे जीने के लिए संघर्ष करना पड़ा। अतएव प्रकृति का मेरा निरूपण चित्रोपम निरूपण है। उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौन्दर्य है। ध्वनियों की धारा है।"[21] यहाँ मैं केदारजी की कतिपय लोकगीत की पंक्तियों से अपनी बात समाप्त करना चाहता हूँ।

मांझी! न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता,
मेरा मन डोलता है, जैसे जल डोलता,
जल का जहाज जैसे पल-पल डोलता,
मांझी! न बजाओ वंशी मेरा प्रन टूटता
मेरा प्रन टूटता है, जैसे तन टूटता...

सन्दर्भ

1. वसुधा–अप्रैल-जून 2010 सम्पादक–कमला प्रसाद, पृष्ठ-64
2. कहें केदार खरी-खरी (काव्य-संग्रह)–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-59
3. वही, पृष्ठ-60
4. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल–रामविलास शर्मा, पृष्ठ-239
5. समय के सवाल–प्रताप सहगल, पृष्ठ-26
6. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास–रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ-31
7. कहें केदार खरी-खरी (काव्य-संग्रह)–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-63-66
8. गुलमेंहदी–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-63
9. केदारनाथ अग्रवाल–सं. अजय तिवारी, पृष्ठ-39
10. फूल नहीं रंग बोलते हैं–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-85
11. गुलमेंहदी–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-28
12. केदारनाथ अग्रवाल–सं. अजय तिवारी, पृष्ठ-135
13. फूल नहीं रंग बोलते हैं–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-74
14. वही, केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-31
15. कहें केदार खरी-खरी (भूमिका)–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-13
16. वही, पृष्ठ-70-71
17. फूल नहीं रंग बोलते हैं–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-73
18. बम्बई का रक्तस्नान–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-07
19. जमुनजल तुम–केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ-92-93
20. वही, पृष्ठ-16
21. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल–रामविलास शर्मा, पृष्ठ-177